क़ुरान शरीफ - सूरह अज-ज़ुमर (39:42)

اللَّهُ يَتَوَفَّى الْأَنفُسَ حِينَ مَوْتِهَا وَالَّتِي لَمْ تَمُتْ فِي مَنَامِهَا
ۖ فَيُمْسِكُ الَّتِي قَضَىٰ عَلَيْهَا الْمَوْتَ وَيُرْسِلُ الْأُخْرَىٰ إِلَىٰ أَجَلٍ مُّسَمًّى

अर्थ - अल्लाह जानों को मौत के वक्त पकड़ लेता है, और जो नहीं मरे, उन्हें नींद के वक्त। फिर जिनकी मौत तय हो चुकी, उन्हें रोके रखता है, और बाकी को एक तय वक्त तक लौटा देता है।

प्रतिक -

अल्लाह - सत्य, अस्तित्व

जान - अहम्

जानो की मौत - अहम् का विसर्जन सत्य में

नींद - बेहोशी

मौत का तय होना - अहम् का विसर्जित हो जाना

उन्हें रोके रखना - मुक्ति

बाकी को तय वक्त तक लौटा देना - बेहोशी की दुनिया में वापस लौटना यानि सुख और दुख की पुनरावृत्ति। उसी में फंसे रहना।

भाष्य -

दो बातें हैं जो हम देख पा रहे हैं: एक है "मृत्यु" और दूसरी है "नींद"।

तुमने कभी देखा है कि जब तुम किसी के आकर्षण में होते हो, तो ऐसा लगता कि तुम स्वयं को भूल रहे हो हो? तुम किसी के प्रति आकृष्ट होते हो, तब भी स्वयं का आभास नहीं होता।
किसी वस्तु, व्यक्ति या सुंदरता के प्रति आकर्षित होते हो,तो वास्तव में तुम क्या कर रहे होते हो? तुम स्वयं को भुलाने का प्रयास कर रहे होते हो न? क्योंकि जब तक तुम स्वयं को याद रखते हो, तब तक आकर्षण संभव नहीं होता।
एक खींचाव बना रहता है, "इधर जाऊं या उधर?","दिल की सुनूं या दिमाग की?"
हालांकि आकर्षण में हम पूर्ण रूप से नहीं मीटते।
इसीलिए तुम देखोगे कि प्रेम(तथाकथित) में पड़े लोग अक्सर तनाव में रहते हैं। आकर्षण है, पर साथ ही शर्त है, आकर्षण हैं और अपनी मांग भी है।
और चूंकि तुम्हारा प्रेम 'आकर्षण' की ही एक परिभाषा है, इसलिए मैं यही उदाहरण ले रहा हूँ।

आकर्षण में जीने वाला व्यक्ति, पूरी तरह उसमें डूब नहीं सकता।
क्योंकि जब तक आकर्षण है, तब तक आकर्षित होने वाला "मैं" भी मौजूद है।
और जब तक 'मैं' मौजूद है तब तक आकर्षण पूरा नहीं हो सकता।

मैंने कहा था आकर्षण में पड़ा व्यक्ति खुद को भुलाने की कोशिश करता है। पर वह वास्तव में खुद को नहीं भूलता, वह बस अपने ही प्रक्षेपण को देखने लगता है।
जैसे शराब पीने वाला व्यक्ति नशे में खुद को भूलना चाहता है, पर अंततः वो उसी नशे में अपनी छाया देखता है। इसे 'भूलना' नहीं कह सकते, यह आँखों पर पट्टी बाँधने जैसा है।

जिसे वो 'स्वयं को भूलना' समझता है वह असल में नशे का ही हिस्सा है। अगर वह सचमुच खुद को भूल गया होता तो नशा उतरने के बाद भी वह मुक्त होता।

(यह एक परिकल्पना है आपको समझाने के लिए। मै जानता हूँ अगर कोई मुक्त हैं तो नशा करेगा ही क्यों? लेकिन यह उदाहरण समझने के लिए ताकि आप जानो कि जिसे हम नशे में स्वयं को भुलाना कहते है वो बस क्षण भर का मेहमान होता है।)

नशे में व्यक्ति भले कुछ देर के लिए सब कुछ भूल जाए, पर फिर वही पुरानी स्थिति लौट आती है। मानो वह फिर अपनी पुरानी दुनिया में खींच लिया गया हो।
मन (*जीवन, जीव, चेतना*) की यही स्थिति को कुरान "नींद" कहती है।
'नींद' यानि बेहोशी।

एक ऐसी बेहोशी, जिसमें यह भ्रम बना रहता है कि हमने स्वयं को भुला दिया। लेकिन वह भूलना वास्तविक नहीं है, बस स्मृति को दूसरी दिशा में

मोड़ देने की नाकाम कोशिस है। स्मृति में कुछ नया आ जाने का अर्थ यह नहीं कि पुराना मिट गया है।

एक अस्थायी भटकाव किसी गहरे पकड़ को नहीं मिटा सकता।

नींद के सपने जीवन की सच्चाई को नहीं बदल सकते।

नींद में तुम सपने देखते हो लेकिन फिर एक सवेरा आएगा, तुम जागोगे लेकिन एक नकली जागरण है वो और तुम फिर से सो जाओगे फिर सपने देखोगे।

देखा है? जब तुम्हें कोई निर्णय लेना होता है; मान लो, तुम कहते हो "*कल से जिम जाऊँगा*", लेकिन अगला दिन आता है - और तुम टाल देते हो। फिर सोचते हो - "*अगली बार से पक्का!*", फिर अगले दिन वही हाल होता है। यही है नींद, ये है मन की नींद।

नींद (*माने बेहोशी - जहाँ तुम्हे अपने बारे में ना पता हो, यानि अज्ञानता*) में तुम संकल्प लेते हो। जब नींद ख़त्म होती है, और जीवन (*तुम्हारी व्यवहारिक सच्चाई - तुम्हारा आलसपन*) की वास्तविकता सामने आती है, तो फिर टालमटोल शुरू।

फिर तुम इस आलसपन से बचने के लिए नये संकल्प लेते हो और फिर वही संकल्प टूटता है।

यही बेहोशी की पुनरावृत्ति को कुरान कहती है — "*तय वक्त तक लौटा देना*"।

किसका लौटा देना?, कहाँ लौटा देना?,कौन लौटाता है?

तुम्हारे मन का लौटा देना तुम्हारे संसार में। कौन लौटायेगा? - तुम खुद ही लौटते हो।

लेकिन क़ुरान तो कह रही है अल्लाह लौटाता है? अल्लाह यानि सत्य - "*अल-हक़*"।

देखो सत्य अपने आप कुछ नहीं करता, वो तुम ही हो जो सच्चाई को थोड़ा सा छूकर वापस अपने नींद में आजाते हो। तुम चाहते हो कि तुम सच के साथ रहो लेकिन जब कोई सच की बात करने आजाये तो तुम तुरंत मुँह फेर लेते हो और लग जाते हो दुनियादारी में।

यही है तय वक्त तक लौटाया जाना। इसी दुनियादारी में तुम वापस आते हो। जैसे जबतक मस्जिद में थे तबतक मन में गाली तक ना लाएंगे और बाहर निकलते ही गाली गलौज़ शुरू। यही है लौटाया जाना, तुम बार बार सच से चूक जाते हो।

एक बेहोश जीवन - जहाँ दुख और सुख की पुनरावृत्ति चलती रहती है। एक चक्र, एक पिंजरा, और हम उसी में घूमते रहते हैं। और सच तो ये है कि सत्य हमें नहीं पकड़ता।
क्यों?
क्योंकि अगर सत्य ने पकड़ लिया होता तो हम झूठ में जा ही नहीं पाते। हमें विकल्प दिया गया है। हम तय करते हैं कि हमें सत्य चाहिए, या उसका थोड़ा-सा स्वाद चाहिए, बाक़ी सब झूठ।
हम ऐसे हैं जो दोनों चाहते हैं, थोड़ा-सा सत्य... और ढेर सारा झूठ।

"लेकिन और भी बातें हैं क़ुरान में।"

क़ुरान कहती है “अल्लाह जानों को मौत के वक़्त पकड़ लेता है।”

यहाँ “जान” का अर्थ है: तुम, तुम्हारा मन, तुम्हारी चेतना। वह चेतना जो अभी भी द्वन्द्व में फँसी हुई है: यह चुनूँ या वह? यह कर्तव्य या वह मोह? यह वही मन है जो सत्य से दूर है, जैसे परीक्षा में कोई प्रश्न आ जाए जिसका उत्तर न आता हो और तुम चार विकल्पों के बीच भटकने लगो: यह सही होगा या वह?

(हालाँकि अब परीक्षाओं में एक से अधिक विकल्प भी सही हो सकते हैं, लेकिन मैं यह उदाहरण इसलिए दे रहा हूँ क्योंकि जीवन में अक्सर सिर्फ एक ही विकल्प “सही” होता है और वह बाहर नहीं मिलता।)

जीवन की परीक्षा में जो उत्तर “सही” है, वह बाहर नहीं मिलेगा। क्योंकि जिन्होंने जीवन को जिया है, जिन्होंने सत्य को जाना है उन्होंने यह पाया है कि बाहर के सभी विकल्प, चाहे जितने आकर्षक क्यों न हों, अंततः तुम्हें वह नहीं दे सकते जो तुम वास्तव में चाहते हो।

अब तुम स्वयं विचार करो,
पहली सच्चाई यह है कि तुम इस दुनिया की सारी वस्तुएँ प्राप्त नहीं कर सकते। और दूसरी सच्चाई यह है कि जो कुछ भी तुमने अब तक पाया है, वो तुम्हारे भीतर का अधूरापन नहीं मिटा सका।

मैं जानता हूँ सच्चाई एक ही होती है। अल्लाह एक होता है।
लेकिन मैं तुम्हारे नज़रिए से बात कर रहा हूँ, तुम्हारे व्यवहारिक जीवन की भाषा में। इसलिए मैं दो सच्चाइयों की बात कर रहा हूँ, ताकि तुम्हारे लिए यह समझना आसान हो कि क्यों क़ुरान की यह आयत तुम्हारे जीवन पर लागू होती है।

क़ुरान एक ऊँची किताब है, लेकिन वो भी तुम्हारे जीवन के लिए उतरी है।
उसकी आयतों को “पारलौकिक” घटनाएँ मत मानो।
उन्हें अपने भीतर देखो, अपने दिनचर्या, अपने मन की हलचलों में देखो।
वरना वे आयतें सिर्फ़ दीवार पर लटक जाएँगी, जीवन में काम नहीं आएँगी।

तो मैं कह रहा था कि - तुम्हारे लिए दो व्यवहारिक सच्चाइयाँ हैं, पहला कि तुम सब कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। और दूसरा कि जो भी प्राप्त किया है, वो अधूरापन नहीं मिटा पाया।

लेकिन फिर भी एक बेहोशी बनी रहती है। एक नींद, जो कहती है कि *"शायद अगली चीज़ में पूरी हो जाऊँगा", "शायद उस रिश्ते में", "शायद उस नौकरी में", "शायद उस घर या कार में"*।
तुम झूठ को सच्चा मानने लगे हो।

सवाल यह नहीं है कि बाहर की चीज़ें झूठी हैं या नहीं; सवाल यह है कि तुमने उनसे क्या उम्मीद लगा रखी है।

तुम सोचते हो यह फूल, यह सौंदर्य, यह व्यक्ति मुझे पूर्णता देगा। लेकिन फूल की कोई मंशा नहीं है तुम्हें पूर्ण करने की। वो तो बस महक रहा है, जैसे उसका स्वभाव है। अगर तुम उसकी खुशबू लेकर सोचते हो कि अब मैं पूर्ण हो जाऊँगा, दुख से मुक्त हो जाऊँगा, तो दोष फूल का नहीं है। तुम अपनी उम्मीदों की गारंटी लेकर जा रहे हो। फूल कोई गारंटी नहीं देता।

तुम्हें पूर्णता नहीं मिलती और तुम कहते हो कि दुनिया झूठी है।
पर दुनिया पहले से ही तुम्हारे लिए झूठी थी। सच तो तुमने उसमें डाल दिया था, अपनी उम्मीद के ज़रिए। और जब तुम बार-बार ठगे जाते हो, तो झूठ दुनिया में नहीं पैदा होता। तुम्हारे भीतर पैदा होता है।
तुम स्वयं एक झूठ में ढल जाते हो।
और गहराई में जाऊ तो यह भी कह सकते हो कि चुंकि तुम झूठे हो इसीलिए बार बार ठगे जाते हो।
तो अब समझो!
जब तुम झूठ को सच समझने लगते हो, तो उसका प्रभाव सिर्फ बाहर नहीं पड़ता वो असर तुम्हारे भीतर होता है।
तुम झूठ को इतनी बार सच मान चुके होते हो कि धीरे-धीरे खुद भी झूठ के पुतले बन जाते हो, दूसरे शब्दों में तुम्हारा झूठ और गहराता जाता है।
एक ऐसा पुतला जो सांस तो लेता है, लेकिन अपनी ही साँसों का अर्थ नहीं जानता।

और फिर धीरे-धीरे, तुम ऐसे लोगों से घिर जाते हो जो खुद झूठ में जी रहे होते हैं, तो उनके साथ रहकर तुम भी उन्हीं जैसे बन जाते हो।
तुम उन्हें देखकर सीखते हो, उनके झूठ को देखकर उसे ही जीवन का सत्य मान लेते हो।

अब दोष वातावरण का नहीं है।
फूल अगर तुम्हें पूर्ण नहीं कर सका, तो दोष फूल का नहीं। वो अपनी महक में था, अपने स्वभाव में था। उसकी मंशा ही नहीं थी तुम्हें पूर्ण करने की। लेकिन तुम हो कि हर विषय, हर वस्तु से उम्मीद लगाए बैठे हो कि यह

चीज़ मुझे संपूर्ण कर देगी। और जब वो संपूर्णता नहीं मिलती, तब तुम कहते हो - *"दुनिया झूठी है।"*
नहीं!
दुनिया को झूठा तुमने ही बनाया है। उससे उम्मीदें लगाकर, उस पर अपने अधूरेपन का बोझ डालकर।
तुम झूठी चीज़ों से सच की अपेक्षा कर रहे हो और यही तुम्हारे झूठ में होने का प्रमाण है। क्योंकि जो स्वयं सत्य होता है, वो जानता है कि झूठ क्या है। सत्य और झूठ - दो अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। झूठ का विसर्जन ही सत्य का उपार्जन है।

जैसे "*see-saw*" का झूला, एक ऊपर तो दूसरा नीचे।
वैसे ही जब तुम झूठ को जान लेते हो, तो सत्य का उदय होता है।

सत्य प्रकट नहीं होता सत्य तो हमेशा से होता है। पर तुम उसे देख नहीं पाते क्योंकि तुम्हारी आँखों पर झूठ की पट्टी बँधी होती है।
तुमने झूठ को नहीं जाना इसलिए अब तक जो भी तुम्हें सत्य लगा, वो भी एक उम्मीद से निकला भ्रम ही था।

अब आते हैं उस मूल आयत पर फिर से:
"अल्लाह जानों को मौत के वक्त पकड़ता है।"
'*अल्लाह*' यानि सत्य।
'*जान*' यानि तुम्हारा मन।
और मौत - इसका अर्थ शरीर छोड़ना नहीं है।

यह ‘मृत्यु’ मन के स्तर की मृत्यु है। जब तुम अपने ही झूठ को देख लेते हो, जब तुमने सचमुच अपने भ्रमों को पहचान लिया, जब तुम अपनी उम्मीदों की पोल खोल देते हो, तब मन के भीतर का झूठ मर जाता है।

और उसी क्षण, अल्लाह (*सत्य*) उस मन को “*पकड़ लेता है।*” वो मन अब झूठ से मुक्त होकर सत्य में प्रवेश कर जाता है।
जैसे आँखों से पट्टी हटती है और तुम देखते हो कि दृश्य तो पहले से ही सामने था। कोई नया सत्य प्रकट नहीं हुआ,सिर्फ तुम्हारा झूठ हट गया।

जैसे महासागर की एक बूंद है,जो महासागर से अलग होकर खुद को बूंद मान रही है। कह रही है: “*मैं तो बस एक बूंद हूँ।*” फिर कोई उसे कहता है: “*तू बूंद नहीं, तू महासागर है।*” और जैसे ही वह बूंद यह पहचान लेती है, वैसे ही वह महासागर में विलीन हो जाती है। बूंद के रूप में उसका झूठ मिट गया।

जैसे मानो वो विलीन नहीं हुई, वो प्रकट हुई, महासागर के रूप में। वो महासागर ही उसका सत्य था।
यही है झूठ का सत्य में मिल जाना। और यही क़ुरान कह रही है "*अल्लाह जानों को मौत के वक़्त पकड़ता है।*"

तो अब प्रश्न उठता है कि - अगर सत्य हमेशा मौजूद है, तो फिर तुम जिसे “सत्य” समझ कर पकड़ रहे हो, वो तुम्हें संपूर्ण क्यों नहीं करता?

सीधा सा उत्तर है- क्योंकि वो तुम्हारा बनाया हुआ सत्य है।

तुमने अपने मन की उम्मीदों से, अपने डर से, अपनी इच्छाओं से मिलाकर एक कल्पना खड़ी की और कहा: “*यह मेरा सत्य है।*”
लेकिन सत्य कभी “*तुम्हारा*” नहीं होता। सत्य सिर्फ सत्य होता है, सार्वभौमिक, अचल, निर्लिप्त। वो तुम्हारी पसंद-नापसंद से उपजा नहीं होता। तुमने जहाँ उम्मीद रखी, वहीं झूठ खड़ा कर दिया। क्योंकि उम्मीद का अर्थ ही है - वर्तमान से असंतोष। तुम जो हो, जहाँ हो, जैसे हो, वहाँ नहीं होना चाहते।

इसलिए तुम बाहर कुछ पकड़ते हो, किसी व्यक्ति, किसी वस्तु, किसी विचार को और कहते हो: "*ये मुझे पूरा करेगा।*" वहीं झूठ शुरू होता है। झूठ का बीज यही है कि “*कोई मुझे पूरा करेगा।*” जब तक यह भ्रम बना है, तब तक झूठ ज़िंदा है।
और जब तुम यह देख लेते हो सिर्फ देख लेते हो, बिना प्रतिरोध के, बिना बहाने के, तब वह भ्रम टूटता है।

यही है झूठ का विसर्जन। यही है असली मृत्यु। और इसे मृत्यु इसीलिए कहा गया है क्योंकि झूठ को जानने के बाद तुम वो नहीं रह जाते जो तुम पहले थे। तुम वापस पुरानी दुनिया में नहीं जाते इसी को क़ुरान कहती है कि "*अल्लाह रोक के रखता है*"। जब तुम सच को जान जाते हो तो सच तुमसे छोड़े नहीं छूटेगा। क्यूंकि जो तुम पहले थे तुम वो नहीं रह जाते।

अब सोचो जब वह भ्रम मरा, तो कौन बचा? तुम? कौन-सा "तुम"?
जो भ्रम में था, वो तो मिट गया। अब जो बचा है, वो झूठ-मुक्त तुम हो और वह तुम ही सत्य हो।

तुम्हारा मन अब वही नहीं रहा, उसकी मृत्यु हो चुकी है,अल्लाह ने उसे पकड़ लिया (*यानी तुमने झूठ को जान लिया और झूठ मिट गया, झूठ का मिटाव ही सत्य का पकड़ाव है*)

क़ुरान की ये बात कि "*अल्लाह जानों को मौत के वक्त पकड़ता है*", अब किसी रहस्यमयी, पारलौकिक घटना की बात नहीं लगती, बल्कि जीवन का सबसे गहरा मनोवैज्ञानिक सत्य बन जाती है।

यह मौत किसी कब्रिस्तान की नहीं है, यह तुम्हारे भीतर घटती है। यह मृत्यु नहीं, मुक्ति है। तुम जैसे ही अपने झूठ को देख लेते हो, तुम्हारा झूठा "मैं" मिट जाता है और वहीं से सत्य प्रकट होता है।

तुम्हें सत्य को जानना नहीं है। तुम्हें बस झूठ को पहचानना है जो तुमने खुद ही ओढ़ रखा है। सत्य तो पहले से है, तुम्हारे भीतर, बाहर, हर जगह।
तुम्हें बस आँखों से पट्टी हटानी है।
और वह पट्टी तुम खुद हो।

~रोहन

क़ुरान शरीफ - सूरह अज-जुमर (39:42) भाष्य समाप्त